औराँग उटाँग

हिन्दी ADDA

धीरेंद्र अस्थाना

औराँग उटाँग

यह तो वह समय था न, जब आप दौड़ना छोड़ चुके होते हैं। तो फिर? मैं सोच रहा हूँ और दौड़ रहा हूँ, एक द्वार से दूसरे द्वार तक। लेकिन आश्चर्य कि हर द्वार जैसे मेरे ही लिए बंद। हर दुःस्वप्न जैसे मेरे ही लिए छोड़ दिया गया। घृणा और दुश्मनी का एक-एक कतरा जैसे मेरे ही विरुद्ध तना हुआ। किनाराकशी की हर मुद्रा जैसे मेरे ही खाते में।

https://www.hindiadda.com/aurang-utang/

यह तो घटना-विहीन, उत्सुकता से खाली और उबा देने वाली शांत-सी जीवन-स्थितियोंवाला समय था न। तो फिर?

तो फिर? एक चीखता हुआ सा आश्चर्य मेरी चेतना पर 'धप्प' से आ गिरा है।

सामने चाँदनी चौक को जाती लंबी सड़क है - एकदम ठसाठस। दौड़ती हुई, सिर ही सिर, मैं लाल किले के सामने वाले कई बस स्टॉप में से एक पर बैठ गया हूँ। यूँ ही, समझ नहीं पा रहा हूँ कि कहाँ जाऊँ? सब जगह तो जा आया हूँ।

बगल में देर से एक अधेड़ आदमी बैठा आती हुई बसों के नंबर पढ़ रहा था। सोचा मेरी मदद कोई नहीं कर रहा है तो क्या? मैं तो किसी की मदद के लिए आगे बढ़ूँ।

'कहाँ जाएँगे भाई साहब?' मेरे स्वर में अतिशय नम्रता है। सहानुभूति की आर्द्रता में रची-बसी।

'कौन मैं?' बगलवाला अधेड़ चौंक-सा पड़ा। 'क्यों? कहीं नहीं जाना है।'

कहीं नहीं जाना है? मुझे धक्का-सा लगा। यह भी उन्हीं में से है। याद आया। लाल किले में गाइड का काम करनेवाला मेरा एक बचपन का दोस्त (बचपन में यह कहाँ पता था कि इसकी नियति गाइड बन जाना होगी) एक बार मुझसे इसी स्टॉप पर टकरा गया था - एकाएक।

'तुम? आप? नमस्ते जी! पहचाना? मैं? देहरादून।' उसने एक-दूसरे से असंबद्ध इतने शब्द एक साथ बोले। और वह भी इतनी मुद्राओं में कि जब मैंने उसे पहचाना तो वह लगभग रो-सा पड़ा।

यह मेरे बचपन का दोस्त था, जिसके साथ मैंने बहुत-से दुख देखे थे। फिर बीच में पंद्रह साल का अंतराल था जिन्होंने उसे याचक और मुझे दाता के दायरे में खड़ा कर दिया था।

'मैं पाँच साल से यहीं हूँ साहब जी!'

'पाँच साल से?' मैं बुदबुदाया था फिर नकली क्रोध में भर कर बोला था, 'यह साहब जी-साहब जी क्या लगा रखी है प्रेम!' प्रेम कहते हुए मैं बेहद आत्मीय हो गया था। सच बात तो यह है कि मुझे काफी देर बाद उसका नाम याद आया था।

'आप यहाँ कैसे?' वह बोला था। 'कोई बस लेनी है?'

'बस?' मुझे दुख हुआ था, कुछ-कुछ क्षोभ भी। दुख इसलिए कि वक्त प्रेम को बस से आगे सोचने की कल्पना भी नहीं दे सका और क्षोभ इसलिए कि इसने मेरे संदर्भ में भी बस की कल्पना की।

'नहीं, बस नहीं।' मैं खिसिया कर बोला। मानो मेरे आभिजात्य पर चोट लगी हो। 'मैं इतनी भीड़-भरी बसों में नहीं चल पाता।' मैंने सफाई-सी दी। 'मैं ऑटो के इंतजार में हूँ। तुम यहाँ कैसे?'

मैं लाल किले में चपरासी हूँ। प्रेम के चेहरे पर कोई पछतावा नहीं था। बल्कि एक तरह का वैसा सुख था जैसा आत्मनिर्भर आदमी के मन में होता है। वह आगे बोला, 'मैं अधिकारियों की आँख बचा कर कभी-कभी किसी मोटी पार्टी का गाइड भी बन जाता हूँ।'

'अच्छा-अच्छा।' मैंने लापरवाही से कहा, 'तो यहाँ खड़े क्या कर रहे थे?'

'यह मेरा शौक है।' प्रेम ने रहस्योद्घाटन-सा किया। 'मैं वक्त निकाल कर अक्सर यहाँ आ जाता हूँ और बस स्टॉप पर बैठे या खड़े लोगों के चेहरे पढ़ा करता हूँ।'

'अच्छा?' मैं अचरज से भर उठा था।

'ये बस स्टॉप न होते तो बहुत-से लोग मारे जाते।' प्रेम ने दूसरा रहस्योद्घाटन किया था।

'वह क्यों?' मेरा अचरज उत्सुकता में ढल रहा था।

'क्यों क्या? वक्त काटने की इससे अच्छी जगह क्या हो सकती है भला! इन स्टॉपों पर बीसियों लोग ऐसे बैठे रहते हैं जिन्हें कहीं नहीं जाना होता। वे यहाँ सुबह आ जाते हैं और रात तक बैठे रहते हैं।'

'क्या?' मैं लगभग चीख ही तो पड़ा था।

'यह तो कुछ भी नहीं है।' प्रेम मेरी अज्ञानता पर रस लेने लगा था। 'यहाँ बैठे-बैठे कई धंधे भी होते रहते हैं।'

धंधों की फेहरिस्त में जाने का समय नहीं था तब। मैंने अपने दफ्तर और घर का पता उसे दिया था और कभी आने का निमंत्रण दे कर वहाँ से चला आया था।

और अब बगल में बैठे अधेड़ ने जब चौंक कर बताया था कि उसे कहीं नहीं जाना है, तो मुझे प्रेम से अपनी वह अचानक हुई मुलाकात याद हो आयी है।

तो मैं क्यों हूँ यहाँ? मैंने सोचा। मुझे कहाँ जाना है? क्या मैं भी वक्त काट रहा हूँ? मैं और वक्त काट रहा हूँ? हे भगवान, जिस शख्स के पास एक क्षण की फुर्सत नहीं होती थी वह यहाँ, लाल किले के स्टॉप पर खड़ा वक्त काट रहा है? औराँग उटाँग क्या इसी को कहते हैं?

सहसा मेरी आत्मा के निस्तब्ध अँधेरे में पसरा शोकाकुल मौन चीख ही तो पड़ा - वध करो! वध करो! वध करो उन सबका, जो शामिल हैं तुम्हारी हत्या के जश्न में।

मैं मारा जा चुका हूँ क्या? मैंने सोचा और डर गया। तभी बगल वाले अधेड़ ने गहरी सहानुभूति में भर कर पूछा, 'तुम्हें भी कहीं नहीं जाना है न?'

'मैं घर जाऊँगा।' मैंने कुछ इस तरह जवाब दिया मानो मुझसे प्रश्न पूछता वह अजनबी मेरा न्यायाधीश हो।

'घर जाओगे?' मेरा वह न्यायाधीश जैसे आहत हो गया। 'भाग्यशाली हो।' उसने बुदबुदा कर कहा, 'तो फिर निकल लो। अँधेरा होने को है।'

मैंने पाया, अँधेरा आसमान से गिरने को ही था और हवा ने ठंडी खुनक के साथ धीरे-धीरे बहना शुरू कर दिया था।

मैंने हवा से पूछा, औराँग उटाँग माने क्या? हवा ने सुना। ठिठकी। मुस्कराई और किनारा कर गई।

किनारा तो ऐसे-ऐसे लोगों ने कर लिया था कि कलेजा मुँह को आ लगा था। मुहावरे अपनी उपस्थिति किस तरह प्रकट करते हैं, यह इन्हीं दिनों जाना था मैंने। पैंतीस की उम्र में जब कनपटियों पर के बाल कहीं-कहीं से सफेद पड़ने लगे हैं। और आँखों के नीचे स्याह धब्बे उतरने को ही हैं।

पैंतीस की उम्र। ईश्वर, मृत्यु और अध्यात्म के सवालों पर लौटने-फिसलने का मन करता है न पैंतीस की उम्र में?

तो फिर? किसी बद्दुआ की तरह यह बेराजगारी कैसे सामने आ गई पैंतीस की उम्र में?

एक भीड़-भरी बस में धँस गया हूँ और सरकता हुआ एक कोने में जा लगा हूँ - शर्म की तरह छिपता हुआ। ऑटो वाले दिन सीने में जख्म-से रिसने लगे हैं।

यह तो बहुत निरापद और श्लथ समय था न! यह तो वह समय था जब पब्लिक स्कूल में पढ़ते हुए बच्चे स्कूल की तरफ से कभी आगरा, कभी बंबई और कभी गोवा के टूर पर जाते रहते हैं और आप माथे पर बिना कोई शिकन लाए दो सौ, तीन सौ या पाँच सौ रुपए चुपचाप उन्हें थमाते रहते हैं - कुछ-कुछ इस अहसास के साथ मानो अपने खुद के वंचित और बुरे बचपन की स्मृति से बदला चुका रहे हों।

उफ! किसी ने पाँव कुचल दिया है।

यह तो वह समय था न जब आप बिना सोचे थ्री व्हीलर पर सवार हो जाते हैं, जब पैसे से ज्यादा कीमती वक्त हो जाता है।

'वक्त बहुत बड़ी चीज है गुरु।' बस के किसी यात्री ने अपने साथी से कहा है, 'वक्त से पहले और भाग्य से ज्यादा कुछ नहीं मिलता।'

मेरे माथे पर शिकन पड़ गई है। सुबह घर से निकलते समय पत्नी ने कहा था, 'तुम पर शनि की साढ़े साती है। इसका निदान ढूँढ़ो।'

औराँग उटाँग माने क्या? मैं सोच रहा हूँ। यही न! हो जाना बेरोजगार पैंतीस की उम्र में?

पैंतीस की उम्र और सहसा जाती रही नौकरी का कोई अंतर्संबंध नहीं समझ पा रहा हूँ मैं। यह तो बहुत लापरवाह और कुछ-कुछ दंभी समय था न! ऐसे समय में नौकरी का चले जाना ही क्या औराँग उटाँग है?

घर के सामने खड़ा हूँ मैं और बेल बजाने से डर रहा हूँ। पत्नी का पहला सवाल होगा, नौकरी मिली? कैसा मजाक है? जो शख्स नौकरी दिया और दिलाया करता था, वह नौकरी ढूँढ़ रहा है! एक नास्तिक के घर में भाग्य ने डेरा डाला है।

बेल बजा दी है और इस तरह खड़ा हो गया हूँ जैसे किसी भिखारी की याचना।

ooo

पत्नी को हर समय गुस्सा आता रहता है। एक दिन मारे गुस्से के रो ही पड़ी। कातर आवाज में बोली, 'क्या ऐसा भी हो सकता है कि अब तुम्हें नौकरी मिले ही न?'

सवाल पर जोर से हँस पड़ने का मन हुआ। इतना लंबा अनुभव अध्ययन, शोहरत और इज्जत, इस सबके बावजूद नौकरी नहीं मिलेगी? लेकिन रात होते-होते मैं डर गया।

मेरी आत्मा के जंगल में एक ही सवाल सिर पटकता रहा - कहीं ऐसा तो नहीं कि सचमुच अब नौकरी मिले ही न?

और यह जो अनुभव, ज्ञान, शोहरत, इज्जत है - नौकरी की राह में कहीं यही चार बाधाएँ तो नहीं खड़ी हैं?

आशंका पर हँस पड़ने का मन हुआ, पर आश्चर्य कि दोनों आँखें रो रही थीं।

पैंतीस रुपए महीने से शुरू हो कर साढ़े तीन हजार रुपए तक पहुँचा था मैं और फिर सड़क पर आ गया था - जाहिर है कि एक बार फिर से शुरू होने का समय खो कर।

'यह तो गनीमत हुई कि छोटे ही सही, पर दो कमरों के अपने मकान में तो हैं।' एक दिन पत्नी ने ईश्वर को धन्यवाद देते हुए कहा था, 'वरना तो...'

'वरना तो' के बाद वह चुप हो गई थी और मैंने मजे-ले-ले कर सोचा था, वरना तो औराँग उटाँग हो जाता।

इस समय वह एकदम चित पड़ी है - छत पर आँखें गड़ाए। शायद उस समय को कोस रही होगी जब उसने अपना भाग्य मेरे जैसे हतभाग्य के साथ बाँधा। सहसा वह पलटी और दार्शनिक अंदाज में बोली, 'सब लोग कायदे से नौकरी कर रहे हैं, एक तुम्हारी ही नौकरी क्यों चली गई?'

मैं 'तड़' से पड़े इस तमाचे पर कोई प्रतिक्रिया व्यक्त करता, उससे पहले ही मेरे मुँह से बेसाख्ता निकला - 'औराँग उटाँग।'

'छिह' उसने करवट बदल ली और आँखें बंद कर लीं।

ooo

मैं पढ़ रहा हूँ। सच यह है कि पढ़ने का प्रयत्न कर रहा हूँ। छोटा बेटा आ गया है। बोला, 'पापा, जब आपको नौकरी मिल जाएगी तो मेरे लिए स्पाइडरमैन के स्टिकर ला दोगे?'

बेटे के सवाल से दिमाग कई जगह से तड़का है शायद। तभी न कँपकँपी-सी छूट गई। जेब से दो रुपए निकाल कर उसे दिए और आहिस्ता से बोला, 'अपने पापा का इस तरह अपमान नहीं करते बेटा। जाओ और स्टिकर ले आओ।'

अब तो पढ़ने में एकदम मन नहीं लग रहा है। उठूँ और चलूँ। लेकिन कहाँ? लाल किले के स्टॉप पर? नहीं, लाल किले के भीतर। प्रेम के पास। बता रहा था कि उसे आठ सौ पचास वेतन मिलता है। प्रेम भी तो पैंतीस का ही है। उसका-मेरा जन्मदिन, पंद्रह दिन आगे-पीछे ही तो पड़ता था। उसी से पूछता हूँ कि बिना अपने मकान के, आठ सौ पचास में कैसे चलता है जीवन, पैंतीस की उम्र में!